Shodhbodhalaya: An International Peer reviewed
Multidisciplinary Journal
Volume 4 | Issue 2 | ISSN: 2584-1807 | (https://shodhbodh.com/)

वैश्वीकरण और सांस्कृतिक पहचान : दार्शनिक चुनौतियाँ एवं समाधान

Globalization and Cultural Identity: Philosophical Challenges and Solutions

डॉ सच्चिदानंद मिश्र

अतिथि विद्वान, दर्शनशास्त्र

प्रधानमंत्री कॉलेज ऑफ़ एक्सीलेंस

शासकीय शहीद केदारनाथ महाविद्यालय मऊगंज

सारांश (Abstract)

वैश्वीकरण (Globalization) समकालीन विश्व की सर्वाधिक प्रभावशाली और बहुआयामी प्रक्रिया है। इसने आर्थिक, राजनीतिक, तकनीकी और सांस्कृतिक स्तरों पर विश्व को एक अभूतपूर्व अन्तःसम्बद्धता प्रदान की है। किन्तु इस प्रक्रिया के साथ सांस्कृतिक पहचान (Cultural Identity) का गहरा संकट भी उत्पन्न हुआ है। जब एक वैश्विक संस्कृति — प्रायः पश्चिमी और विशेषकर अमेरिकी — अन्य संस्कृतियों पर हावी होने लगती है, तो स्थानीय भाषाएँ, परम्पराएँ, मूल्य प्रणालियाँ और जीवन-दृष्टियाँ संकट में पड़ जाती हैं। प्रस्तुत शोध पत्र दार्शनिक दृष्टिकोण से वैश्वीकरण और सांस्कृतिक पहचान के जटिल अन्तर्संबंध का परीक्षण करता है। इसमें सांस्कृतिक पहचान की दार्शनिक अवधारणा, वैश्वीकरण की प्रकृति एवं स्वरूप, इससे उत्पन्न दार्शनिक चुनौतियाँ तथा उनके सम्भव समाधानों का विस्तृत विवेचन किया गया है। पाश्चात्य दार्शनिक परम्पराओं — हेगेल, हर्डर, हेबरमास, टेलर तथा भारतीय दार्शनिक चिन्तन टैगोर, गाँधी, अम्बेडकर, अरविन्द के आलोक में यह विचार किया गया है कि वैश्वीकरण के दौर में सांस्कृतिक विविधता को कैसे संरक्षित किया जाए और एक न्यायसंगत, बहुलवादी विश्व-व्यवस्था कैसे स्थापित की जाए।

मुख्य शब्द (Keywords)

वैश्वीकरण, सांस्कृतिक पहचान, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, बहुलवाद, सांस्कृतिक सापेक्षवाद, संकरीकरण, विश्व-नागरिकता, मानवाधिकार, सांस्कृतिक विविधता, स्थानीयकरण, सांस्कृतिक संवाद, अस्मिता।

प्रस्तावना (Introduction)-

मानव सभ्यता का इतिहास विभिन्न संस्कृतियों, सभ्यताओं और परम्पराओं के बीच मिलन, संघर्ष, आदान-प्रदान और सह-अस्तित्व का इतिहास रहा है। प्रत्येक संस्कृति अपने विशिष्ट भूगोल, इतिहास, भाषा, धर्म और सामाजिक अनुभवों के आधार पर एक अनूठी जीवन-दृष्टि का निर्माण करती है। यह सांस्कृतिक विविधता मानव सभ्यता की धरोहर है, उसकी शक्ति है और उसकी पहचान है। किन्तु बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और इक्कीसवीं शताब्दी में जिस गति और व्यापकता से वैश्वीकरण की प्रक्रिया आगे बढ़ी है, उसने इस सांस्कृतिक विविधता के समक्ष अभूतपूर्व चुनौतियाँ खड़ी कर दी हैं।

वैश्वीकरण केवल एक आर्थिक परिघटना नहीं है — यह एक सांस्कृतिक, दार्शनिक और सत्ता-सम्बन्धी परिघटना भी है। जब मैकडोनाल्ड का बर्गर वाराणसी की गलियों में बिकता है, जब हॉलीवुड की फिल्में अफ्रीकी गाँवों में देखी जाती हैं, जब अंग्रेजी भाषा विश्व के कोने-कोने में स्थानीय भाषाओं की जगह लेने लगती है — तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या वैश्वीकरण वास्तव में एक समतल खेल-मैदान बना रहा है, या यह एक नए प्रकार के सांस्कृतिक उपनिवेशवाद का रूप है? क्या हम विश्व के नागरिक बन रहे हैं, या अमेरिकी उपभोक्ता संस्कृति के उपभोक्ता मात्र?

दर्शनशास्त्र की दृष्टि से ये प्रश्न अत्यन्त गहरे हैं। पहचान (Identity) का प्रश्न दर्शनशास्त्र की एक मूलभूत समस्या है। 'मैं कौन हूँ?' यह प्रश्न व्यक्ति के स्तर पर जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही समुदाय और संस्कृति के स्तर पर भी। जब वैश्वीकरण की ताकतें किसी संस्कृति की भाषा, परम्पराओं और मूल्यों को विस्थापित करने लगती हैं, तो वह संस्कृति अस्तित्वगत संकट में आ जाती है। यह केवल एक भावनात्मक या राजनीतिक प्रश्न नहीं, बल्कि एक गहरा दार्शनिक प्रश्न है जिसका उत्तर तलाशना आवश्यक है।

भारत के संदर्भ में यह प्रश्न और भी प्रासंगिक हो जाता है। भारत एक ऐसी सभ्यता है जिसने अनेक संस्कृतियों, भाषाओं और धर्मों को अपने भीतर समाहित करते हुए एक विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान निर्मित की है। किन्तु आज उपभोक्तावादी वैश्वीकरण के दबाव में भारतीय भाषाएँ, लोक-कलाएँ, पारम्परिक ज्ञान और जीवन-मूल्य तेजी से क्षरित हो रहे हैं। इस संदर्भ में वैश्वीकरण और सांस्कृतिक पहचान के दार्शनिक प्रश्नों की पड़ताल न केवल शैक्षणिक महत्त्व की है, बल्कि यह एक सामाजिक और सभ्यतागत अनिवार्यता भी है।

शोध पत्र का उद्देश्य (Objectives)-

प्रस्तुत शोध पत्र के निम्नलिखित प्रमुख उद्देश्य निर्धारित किए गए हैं। प्रथम उद्देश्य यह है कि वैश्वीकरण की अवधारणा और उसके विभिन्न आयामों को दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट किया जाए तथा यह परीक्षित किया जाए कि वैश्वीकरण एक तटस्थ प्रक्रिया है या एक विशेष शक्ति-संरचना की अभिव्यक्ति। द्वितीय उद्देश्य यह है कि सांस्कृतिक पहचान की दार्शनिक अवधारणा का विश्लेषण किया जाए और यह समझा जाए कि सांस्कृतिक पहचान क्यों महत्त्वपूर्ण है तथा इसके क्षरण के क्या नैतिक निहितार्थ हैं।

तृतीय उद्देश्य यह है कि वैश्वीकरण से उत्पन्न होने वाली प्रमुख दार्शनिक चुनौतियों सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, पहचान का संकट, सांस्कृतिक सापेक्षवाद बनाम सार्वभौमिकतावाद, और भाषाई विविधता का खतरा का व्यवस्थित परीक्षण किया जाए। चतुर्थ उद्देश्य यह है कि वैश्वीकरण के दौर में सांस्कृतिक पहचान की रक्षा के लिए दार्शनिक समाधानों का अन्वेषण किया जाए जिसमें पाश्चात्य और भारतीय दोनों दार्शनिक परम्पराओं का सहारा लिया जाए। पंचम उद्देश्य यह है कि एक ऐसे वैश्विक-स्थानीय संवाद का दार्शनिक आधार तैयार किया जाए जो सांस्कृतिक विविधता के संरक्षण के साथ-साथ मानव एकता के आदर्श को भी साकार कर सके।

महत्व (Significance)-

प्रस्तुत शोध पत्र का महत्त्व बहुस्तरीय है। दार्शनिक स्तर पर यह शोध पत्र पहचान, संस्कृति, बहुलवाद और वैश्विकता के परस्पर सम्बन्धों की गहन दार्शनिक पड़ताल करता है। ये प्रश्न केवल सैद्धान्तिक नहीं हैं इनके उत्तर ठोस नीतिगत और सामाजिक परिणाम उत्पन्न करते हैं। जिस प्रकार वैश्वीकरण की नीतियाँ बनाई जाती हैं, उनमें किसके मूल्यों को प्राथमिकता दी जाती है—यह प्रश्न मूलतः दार्शनिक है। सांस्कृतिक स्तर पर यह शोध पत्र उन समुदायों की आवाज को दार्शनिक भाषा देता है जो वैश्वीकरण के दबाव में अपनी सांस्कृतिक पहचान खोने का खतरा अनुभव कर रहे हैं।

भारतीय संदर्भ में यह शोध पत्र विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि भारत आज विकास और संस्कृति, परम्परा और आधुनिकता, स्थानीयता और वैश्विकता के बीच गहरे तनाव से गुजर रहा है। भारतीय भाषाओं का तेजी से क्षरण, लोक-परम्पराओं का विलोपन, पारम्परिक व्यवसायों और जीवन-शैलियों का अन्त, और युवा पीढ़ी का अपनी सांस्कृतिक जड़ों से कटना—ये सभी वैश्वीकरण के सांस्कृतिक प्रभाव हैं। इनके दार्शनिक विश्लेषण और समाधान की तत्काल

आवश्यकता है। नीतिगत और शैक्षणिक स्तर पर यह शोध पत्र सांस्कृतिक नीति, शिक्षा नीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में नीति-निर्माताओं के लिए उपयोगी दार्शनिक ढाँचा प्रस्तुत करता है।

वैश्वीकरण और सांस्कृतिक पहचान-

1. वैश्वीकरण: अवधारणा और दार्शनिक परिप्रेक्ष्य-

वैश्वीकरण को सामान्यतः एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जाता है जिसमें विश्व के विभिन्न देश और समाज आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और तकनीकी स्तरों पर परस्पर अधिकाधिक सम्बद्ध और निर्भर होते जाते हैं। किन्तु दार्शनिक दृष्टि से वैश्वीकरण की इस परिभाषा पर प्रश्न उठाने की आवश्यकता है। क्या यह प्रक्रिया वास्तव में 'वैश्विक' है—अर्थात् सभी देशों और संस्कृतियों के लिए समान रूप से लाभकारी और उनकी भागीदारी पर आधारित—या यह एक विशेष प्रकार के आधिपत्य की प्रक्रिया है?

फ्रांसीसी दार्शनिक और समाजवैज्ञानिक पियरे बोर्ड्यू (Pierre Bourdieu) ने वैश्वीकरण को एक 'राजनीतिक कार्यक्रम' कहा जो नव-उदारवादी आर्थिक विचारधारा को सार्वभौमिक सत्य के रूप में प्रस्तुत करता है। एंथोनी गिडेंस (Anthony Giddens) के अनुसार वैश्वीकरण उच्च आधुनिकता की एक विशेषता है जो समय और स्थान को संकुचित कर देती है। मैनुएल कास्टेल्स (Manuel Castells) इसे 'नेटवर्क समाज' की संरचना के रूप में देखते हैं। इन सभी दृष्टिकोणों में एक बात समान है—वैश्वीकरण एक जटिल, बहुआयामी और शक्ति-असमान प्रक्रिया है।

भारतीय दार्शनिक दृष्टि से वैश्वीकरण की अवधारणा का परीक्षण करते समय दो परम्परागत विचारों का उल्लेख आवश्यक है। प्रथम है 'वसुधैव कुटुम्बकम्' — सम्पूर्ण पृथ्वी एक परिवार है। यह भारत की वैश्विक मानव एकता की उद्घोषणा है, किन्तु इसका अर्थ सांस्कृतिक एकरूपता नहीं, बल्कि विविधता में एकता है — ठीक वैसे जैसे एक परिवार में अलग-अलग व्यक्तित्व होते हैं पर सबके बीच प्रेम और सम्मान होता है। द्वितीय है रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'विश्वभारती' की कल्पना—जहाँ 'सारे जहाँ से अच्छा' का अर्थ सभी संस्कृतियों की सर्वश्रेष्ठ निधि का समन्वय है, न कि किसी एक संस्कृति का वर्चस्व।

2. सांस्कृतिक पहचान: दार्शनिक विवेचन-

सांस्कृतिक पहचान एक जटिल और बहुस्तरीय अवधारणा है। दार्शनिक दृष्टि से पहचान (Identity) के दो मूलभूत आयाम हैं — व्यक्तिगत पहचान और सामूहिक पहचान। व्यक्तिगत पहचान से तात्पर्य उस बोध से है जो व्यक्ति को यह जानने में सहायता करता है कि 'मैं कौन हूँ।' सामूहिक या सांस्कृतिक पहचान उस साझे बोध से है जो किसी समूह को यह जानने में सहायता करती है कि 'हम कौन हैं।' यह साझी भाषा, इतिहास, परम्पराएँ, मूल्य, धर्म, कला और स्मृतियों के आधार पर निर्मित होती है।

जर्मन दार्शनिक जोहान गॉटफ्रीड हर्डर (Johann Gottfried Herder) सांस्कृतिक पहचान के सर्वाधिक प्रभावशाली दार्शनिकों में से हैं। हर्डर का मत था कि प्रत्येक संस्कृति (Volk—लोक) की अपनी आत्मा (Volksgeist — लोकात्मा) होती है जो उसे अन्य संस्कृतियों से अद्‌वितीय बनाती है। उन्होंने सांस्कृतिक विविधता को मानव सभ्यता की नैसर्गिक और वांछनीय अवस्था माना। हेगेल के 'आत्मा का विकास' (Phenomenology of Spirit) में भी संस्कृति और इतिहास को आत्मा की अभिव्यक्ति माना गया है।

कनाडाई दार्शनिक चार्ल्स टेलर (Charles Taylor) की 'प्रामाणिकता की नैतिकता' (Ethics of Authenticity) सांस्कृतिक पहचान को एक नैतिक आयाम देती है। टेलर का तर्क है कि प्रत्येक व्यक्ति और समुदाय को अपनी विशिष्ट पहचान के साथ प्रामाणिक रूप से जीने का अधिकार है — यह अधिकार आधुनिक उदारवादी नैतिकता का एक मूल तत्त्व है। उनकी 'पहचान की राजनीति' (Politics of Recognition) यह माँग करती है कि विभिन्न संस्कृतियों को समाज और राज्य की संस्थाओं में उचित मान्यता और सम्मान मिले। टेलर का यह विचार बहुसांस्कृतिक लोकतन्त्र के लिए एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है।

भारतीय संदर्भ में सांस्कृतिक पहचान का प्रश्न और भी जटिल है क्योंकि भारत स्वयं अनेक सांस्कृतिक पहचानों का समुच्चय है — क्षेत्रीय, भाषाई, धार्मिक, जातीय और आदिवासी। भारतीय संविधान ने इस बहुलता को 'विविधता में एकता' के सिद्‌धान्त के अन्तर्गत एक राष्ट्रीय पहचान में पिरोने का प्रयास किया है। अम्बेडकर का यह विचार कि भारत की राष्ट्रीय पहचान जाति-भेद और सांस्कृतिक उत्पीड़न के बिना ही वास्तविक हो सकती है — सांस्कृतिक पहचान के प्रश्न को सामाजिक न्याय से जोड़ता है।

दार्शनिक चुनौतियाँ (Philosophical Challenges)-

1. सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की चुनौती-

सांस्कृतिक साम्राज्यवाद (Cultural Imperialism) वैश्वीकरण से उत्पन्न सबसे गम्भीर दार्शनिक चुनौती है। इसका तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसमें एक शक्तिशाली संस्कृति — प्रायः पश्चिमी और विशेषकर अमेरिकी — अपने मूल्यों, जीवन-शैली, उपभोग-पद्धतियों और विश्वदृष्टि को कमजोर संस्कृतियों पर थोपती है। मीडिया, मनोरंजन उद्योग, इंटरनेट, फास्ट फूड श्रृंखलाएँ और उपभोक्ता वस्तुएँ इस प्रसार के प्रमुख माध्यम हैं। दार्शनिक दृष्टि से यह एक नैतिक समस्या है यह उन संस्कृतियों की स्वायत्तता और सम्मान का हनन करती है जो इस 'वैश्विक' संस्कृति को अपनाने के लिए बाध्य होती हैं।

एडवर्ड सईद (Edward Said) की 'ओरिएण्टलिज्म' (Orientalism) की अवधारणा इस सांस्कृतिक असमानता को उजागर करती है। सईद का तर्क है कि पश्चिम ने पूर्वी संस्कृतियों को जिस प्रकार परिभाषित किया 'पिछड़ा', 'अतार्किक', 'रहस्यमय' यह एक सत्ता-प्रक्रिया है जो सांस्कृतिक उपनिवेशवाद को वैध बनाती है। फ्रान्ट्ज फैनन (Frantz Fanon) ने दिखाया कि किस प्रकार उपनिवेशित लोग धीरे-धीरे अपनी संस्कृति को हेय और उपनिवेशक की संस्कृति को श्रेष्ठ मानने लगते हैं यह मानसिक उपनिवेशीकरण (Mental Colonization) सांस्कृतिक पहचान के लिए सर्वाधिक विनाशकारी है। भारत में अंग्रेजी की आदर्शीकरण और स्थानीय भाषाओं के प्रति हीन-भावना इसी मानसिक उपनिवेशीकरण का उदाहरण है।

2. सांस्कृतिक सापेक्षवाद और सार्वभौमिकतावाद का द्वंद्व-

वैश्वीकरण के संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक द्वंद्व सांस्कृतिक सापेक्षवाद (Cultural Relativism) और नैतिक सार्वभौमिकतावाद (Moral Universalism) के बीच है। सांस्कृतिक सापेक्षवाद यह मानता है कि नैतिक मूल्य और मानक सांस्कृतिक संदर्भ-सापेक्ष हैं कोई सार्वभौमिक नैतिकता नहीं होती। इस दृष्टिकोण के अनुसार किसी बाहरी मानक से किसी संस्कृति का मूल्यांकन करना अनुचित है। दूसरी ओर, नैतिक सार्वभौमिकतावाद यह मानता है कि कुछ मानव अधिकार और नैतिक सिद्धान्त सभी संस्कृतियों पर लागू होते हैं और इन्हें सांस्कृतिक बहाने से नकारा नहीं जा सकता।

यह द्वंद्व व्यावहारिक स्थितियों में और भी तीव्र हो जाता है। जब 'सती प्रथा', 'बाल-विवाह', 'महिला खतना' या 'जाति भेदभाव' जैसी प्रथाओं को सांस्कृतिक परम्परा के नाम पर न्यायसंगत ठहराया जाता है, तो सांस्कृतिक सापेक्षवाद नैतिक उत्तरदायित्व से मुक्ति का माध्यम बन जाता है। किन्तु जब मानवाधिकारों के नाम पर पश्चिमी शक्तियाँ अन्य देशों पर अपना मॉडल थोपती हैं, तो सार्वभौमिकतावाद सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का उपकरण बन जाता है। इस तनाव को सुलझाना वैश्वीकरण के दौर में सर्वाधिक कठिन दार्शनिक चुनौतियों में से एक है।

अमर्त्य सेन (Amartya Sen) ने इस द्वंद्व का एक रचनात्मक समाधान 'विकास-स्वतन्त्रता' (Development as Freedom) की अवधारणा में प्रस्तुत किया। उनका तर्क है कि मानव क्षमताओं (Human Capabilities) का विकास एक सार्वभौमिक लक्ष्य है, किन्तु इसे प्राप्त करने के मार्ग सांस्कृतिक विविधता को समाहित कर सकते हैं। मार्था नसबाउम (Martha Nussbaum) की 'क्षमता दृष्टिकोण' (Capabilities Approach) भी सांस्कृतिक विविधता और सार्वभौमिक मानवाधिकारों के बीच एक संतुलन का प्रयास करती है।

3. भाषाई विविधता का संकट

भाषा सांस्कृतिक पहचान का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वाहन है। दार्शनिक लुडविग विट्गेन्स्टाइन (Ludwig Wittgenstein) के अनुसार भाषा केवल सम्प्रेषण का माध्यम नहीं है — यह जीवन-जगत (Life-World) का निर्माण करती है। जिस भाषा में हम सोचते हैं, उसमें हम अपनी वास्तविकता को समझते और व्यक्त करते हैं। अतः जब कोई भाषा लुप्त होती है, तब केवल शब्दों का भण्डार नष्ट नहीं होता — एक सम्पूर्ण विश्वदृष्टि, एक विशिष्ट ज्ञान-परम्परा और एक अद्वितीय मानव अनुभव सदा के लिए विलुप्त हो जाता है।

वर्तमान में विश्व की लगभग 7000 भाषाओं में से अनुमानतः 50 प्रतिशत भाषाएँ इस सदी के अन्त तक विलुप्त हो जाने की आशंका है। अंग्रेजी का वैश्विक वर्चस्व, इंटरनेट पर अंग्रेजी सामग्री की अधिकता और शिक्षा-रोजगार में अंग्रेजी की अनिवार्यता इस भाषाई संकट के मुख्य कारण हैं। भारत में जहाँ 122 प्रमुख भाषाएँ और 1500 से अधिक बोलियाँ हैं, वहाँ अनेक भाषाएँ और बोलियाँ तेजी से लुप्त हो रही हैं। दार्शनिक दृष्टि से यह न केवल भाषाई, बल्कि सांस्कृतिक और नैतिक संकट है।

4. पहचान का संकट और आधुनिकता का प्रश्न-

वैश्वीकरण के दौर में 'पहचान का संकट' (Identity Crisis) एक व्यापक सामाजिक-मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक समस्या बन गई है। जब पारम्परिक सांस्कृतिक संदर्भ धर्म, समुदाय, परम्पराएँ — टूटने लगते हैं और वैश्विक उपभोक्तावादी संस्कृति उनकी जगह लेने लगती है, तो व्यक्ति और समुदाय दोनों 'मैं/हम कौन हैं?' के प्रश्न का उत्तर खोजने में कठिनाई अनुभव करते हैं। जर्मन दार्शनिक यूर्गेन हेबरमास (Jurgen Habermas) ने 'आधुनिकता की अपूर्ण परियोजना' (The Incomplete Project of Modernity) में दिखाया है कि आधुनिकता ने ऐसे मूल्य प्रस्तुत किए जो सार्वभौमिक मुक्ति का वादा करते हैं, किन्तु व्यवहार में वे अनेक सांस्कृतिक परम्पराओं का विस्थापन करते हैं।

भारत में यह संकट विशेष रूप से युवा पीढ़ी में दृष्टिगत है जो एक ओर वैश्विक उपभोक्तावादी संस्कृति के आकर्षण से खिंची है और दूसरी ओर अपनी सांस्कृतिक जड़ों की खोज में भी उत्सुक है। यह द्वन्द्व कभी-कभी कट्टरपन्थी पहचान राजनीति का रूप ले लेता है, जो कि एक खतरनाक प्रतिक्रिया है। दार्शनिक दृष्टि से चाहिए कि पहचान की खोज एक खुले, आत्म-समालोचनात्मक और संवाद-उन्मुख प्रक्रिया हो, न कि एक बन्द, आक्रामक और दूसरों को नकारने वाली प्रक्रिया।

5. डिजिटल युग में सांस्कृतिक पहचान की नई चुनौतियाँ-

इंटरनेट और सोशल मीडिया ने सांस्कृतिक पहचान के प्रश्न को एक नया आयाम दिया है। एक ओर डिजिटल तकनीक ने अल्पसंख्यक भाषाओं और संस्कृतियों को वैश्विक मंच पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराने का अवसर दिया है। दूसरी ओर, बड़े तकनीकी निगमों—गूगल, फेसबुक, अमेजन का सांस्कृतिक और भाषाई एकरूपीकरण पर प्रभाव गहरा है। एल्गोरिदम जो सामग्री परोसते हैं वे प्रायः अंग्रेजी और पश्चिमी सांस्कृतिक दृष्टिकोण के अनुकूल होते हैं। 'फिल्टर बबल' और 'एको चैम्बर' की समस्याएँ सांस्कृतिक संवाद को और कठिन बनाती हैं। दार्शनिक दृष्टि से यह प्रश्न उठता है कि डिजिटल सार्वजनिक क्षेत्र (Digital Public Sphere) में सांस्कृतिक विविधता और लोकतान्त्रिक संवाद को कैसे सुनिश्चित किया जाए।

समाधान (Solutions)-

1. सांस्कृतिक बहुलवाद का दार्शनिक आधार-

वैश्वीकरण की चुनौतियों का सबसे महत्त्वपूर्ण दार्शनिक समाधान 'सांस्कृतिक बहुलवाद' (Cultural Pluralism) में निहित है। सांस्कृतिक बहुलवाद यह मानता है कि विभिन्न संस्कृतियाँ परस्पर सम्मान और समान मर्यादा के साथ सह-अस्तित्व में रह सकती हैं और रहनी चाहिए। यह न तो सांस्कृतिक एकरूपीकरण (Homogenization) का समर्थन करता है, न ही संस्कृतियों के बीच निरपेक्ष अलगाव का। इसके बजाय यह उनके बीच रचनात्मक संवाद, परस्पर समृद्धि और सह-विकास की संभावना खोलता है।

विल किमलिका (Will Kymlicka) की 'बहुसांस्कृतिक नागरिकता' (Multicultural Citizenship) की अवधारणा इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक योगदान है। किमलिका का तर्क है कि उदारवादी लोकतन्त्र को केवल व्यक्तिगत अधिकार ही नहीं, बल्कि सामूहिक सांस्कृतिक अधिकार भी प्रदान करने चाहिए। अल्पसंख्यक समुदायों को अपनी भाषा, परम्पराओं और संस्थाओं को संरक्षित करने का अधिकार होना चाहिए। भारतीय संविधान में अनुच्छेद 29 और 30 में अल्पसंख्यकों को अपनी भाषा और संस्कृति संरक्षित करने का अधिकार इसी बहुसांस्कृतिक दृष्टि की अभिव्यक्ति है।

2. संवादात्मक सार्वभौमिकतावाद और अन्तर-सांस्कृतिक दर्शन-

सांस्कृतिक सापेक्षवाद और सार्वभौमिकतावाद के द्वंद्व का एक रचनात्मक समाधान 'संवादात्मक सार्वभौमिकतावाद' (Dialogical Universalism) में है। यूर्गेन हेबरमास की 'संवाद नैतिकता' (Discourse Ethics) के अनुसार सार्वभौमिक नैतिक सिद्धान्त किसी एक संस्कृति द्वारा थोपे नहीं जाते, बल्कि खुले, तर्कसंगत और समावेशी संवाद की प्रक्रिया से उभरते हैं। इस प्रक्रिया में सभी प्रभावित पक्षों की समान भागीदारी होनी चाहिए।

'अन्तर-सांस्कृतिक दर्शन' (Intercultural Philosophy) एक उभरता हुआ दार्शनिक आन्दोलन है जो विभिन्न सांस्कृतिक और दार्शनिक परम्पराओं के बीच समान स्तर पर संवाद की वकालत करता है। इसके प्रमुख प्रतिनिधि रिमोन पानिक्कर (Raimon Panikkar) हैं जिन्होंने 'अन्तर-धार्मिक और अन्तर-सांस्कृतिक संवाद' (Intercultural Dialogue) को एक नई दार्शनिक विधि के रूप में प्रस्तुत किया। पानिक्कर का 'द्वैताद्वैत' (Diatopical Hermeneutics) यह प्रस्तावित करता है कि विभिन्न संस्कृतियाँ अपनी-अपनी दार्शनिक परम्पराओं के 'टोपोई' (मूल स्थानों) से संवाद करें और परस्पर सीखें।

भारतीय दर्शन में 'अनेकान्तवाद' (Many-sidedness) और 'सर्वधर्मसमभाव' (Equal Respect for All Religions) की परम्परा अन्तर-सांस्कृतिक संवाद के लिए एक प्राचीन और प्रासंगिक ढाँचा प्रस्तुत करती है। अशोक का 'धम्म' जो विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों के बीच आदर और संवाद पर आधारित था, आज के वैश्विक संदर्भ में अत्यन्त प्रासंगिक मार्गदर्शन है।

3. रवीन्द्रनाथ ठाकुर का सांस्कृतिक दृष्टिकोण-

रवीन्द्रनाथ ठाकुर वैश्वीकरण और सांस्कृतिक पहचान के प्रश्न पर सर्वाधिक गहरे भारतीय दार्शनिक हैं। उन्होंने राष्ट्रवाद और वैश्वीकरण दोनों के चरम रूपों की आलोचना की। उनके अनुसार 'राष्ट्र' की यूरोपीय अवधारणा जो एकात्मकता, सैन्य शक्ति और प्रतिस्पर्धा पर आधारित है — भारत के लिए उपयुक्त नहीं है। भारत की शक्ति उसकी 'समन्वय की परम्परा' में है जो विभिन्न संस्कृतियों को आत्मसात करते हुए भी अपनी विशिष्टता बनाए रखती है।

ठाकुर की 'विश्वभारती' की अवधारणा 'यत्र विश्वं भवत्येकनीड़म्' (जहाँ विश्व एक नीड़ बन जाता है) वैश्वीकरण का एक वैकल्पिक और मानवतावादी मॉडल प्रस्तुत करती है। इस मॉडल में विभिन्न संस्कृतियाँ अपनी पहचान खोए बिना परस्पर सीखती और एक-दूसरे को समृद्ध करती हैं। यह 'सांस्कृतिक संकरीकरण' (Cultural Hybridization) के उस सकारात्मक स्वरूप का आदर्श है जिसमें प्रत्येक संस्कृति दूसरों से ग्रहण करते हुए भी अपनी मूल आत्मा को सुरक्षित रखती है।

4. गाँधी का स्वदेशी और सांस्कृतिक स्वावलम्बन

गाँधी का 'स्वदेशी' का सिद्धान्त सांस्कृतिक पहचान की रक्षा के लिए एक व्यावहारिक दार्शनिक उत्तर है। गाँधी का स्वदेशी केवल आर्थिक आत्मनिर्भरता का सिद्धान्त नहीं था—यह एक सांस्कृतिक और नैतिक सिद्धान्त भी था। इसके अनुसार व्यक्ति और समुदाय अपनी स्थानीय संस्कृति, भाषा, कला, शिल्प और ज्ञान-परम्पराओं को महत्त्व दें और उनसे गौरव का अनुभव करें। गाँधी का यह विचार उपनिवेशवाद द्वारा थोपी गई सांस्कृतिक हीन-भावना का एक शक्तिशाली दार्शनिक प्रतिरोध था।

गाँधी ने 'हिन्द स्वराज' (1909) में आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की आलोचना करते हुए भारतीय सभ्यता के मूल्यों की पुनर्स्थापना का आह्वान किया था। वर्तमान वैश्वीकरण के संदर्भ में उनका यह विचार एक 'सांस्कृतिक विकल्प'

(Cultural Alternative) प्रस्तुत करता है जो न तो अन्धे परम्परावाद की वकालत करता है, न ही पश्चिमी आधुनिकता का अन्ध-अनुसरण। इसके बजाय यह एक चयनात्मक और आत्म-सम्मान-पूर्ण सांस्कृतिक रणनीति प्रस्तुत करता है।

5. स्थानीयकरण और वैश्विकता का समन्वय — 'ग्लोकलाइजेशन'-

'ग्लोकलाइजेशन' (Glocalization) — वैश्विक और स्थानीय का समन्वय — वैश्वीकरण और सांस्कृतिक पहचान के तनाव का एक व्यावहारिक और दार्शनिक समाधान है। समाजशास्त्री रोलैंड रॉबर्टसन (Roland Robertson) ने यह अवधारणा प्रस्तुत की जो यह मानती है कि वैश्विक और स्थानीय शक्तियाँ परस्पर विरोधी नहीं हैं — वे एक-दूसरे को रूपांतरित और समृद्ध कर सकती हैं। जापानी व्यापार-रणनीति 'दोचाकुका' 'विश्व-स्तर पर सोचो, स्थानीय-स्तर पर करो' इसी दर्शन की व्यावसायिक अभिव्यक्ति है।

दार्शनिक दृष्टि से ग्लोकलाइजेशन यह सुझाता है कि वैश्विक सम्पर्क और अन्तःक्रिया को स्थानीय सांस्कृतिक पहचान को मजबूत करने के अवसर के रूप में देखा जाए। जब भारतीय शास्त्रीय संगीत वैश्विक दर्शकों तक पहुँचता है, जब आयुर्वेद और योग को वैश्विक स्वीकृति मिलती है, जब भारतीय सिनेमा और साहित्य विश्व में पहचाना जाता है — यह ग्लोकलाइजेशन का सकारात्मक उदाहरण है। इसमें भारतीय संस्कृति अपनी विशिष्टता खोये बिना वैश्विक संवाद में भाग लेती है।

निष्कर्ष (Conclusion)-

प्रस्तुत शोध पत्र के विस्तृत दार्शनिक विश्लेषण से कई महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष उभर कर आते हैं। प्रथमतः, वैश्वीकरण एक तटस्थ प्रक्रिया नहीं है यह विशेष शक्ति-संरचनाओं, आर्थिक हितों और सांस्कृतिक मान्यताओं की अभिव्यक्ति है। इसके लाभ और हानियाँ असमान रूप से वितरित हैं जो देश और समुदाय पहले से शक्तिशाली हैं, वे इससे अधिक लाभान्वित होते हैं और जो कमजोर हैं, वे प्रायः अपनी सांस्कृतिक पहचान के विस्थापन का खतरा उठाते हैं। इस असमानता को दूर करना वैश्विक न्याय की एक अनिवार्य माँग है।

द्वितीयतः, सांस्कृतिक पहचान मानव गरिमा और स्वायत्तता का एक अभिन्न अंग है। जिस प्रकार व्यक्ति की पहचान उसकी मनोवैज्ञानिक और नैतिक समग्रता के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार सामूहिक सांस्कृतिक पहचान किसी

समुदाय की ऐतिहासिक निरन्तरता, आत्म-सम्मान और सामाजिक एकता के लिए आवश्यक है। इसका हनन एक नैतिक अपराध है जिसे वैश्विक विमर्श में मान्यता मिलनी चाहिए।

तृतीयतः, सांस्कृतिक सापेक्षवाद और सार्वभौमिकतावाद के बीच का रास्ता 'संवादात्मक सार्वभौमिकतावाद' है जहाँ सार्वभौमिक मानवाधिकारों और मूल्यों को किसी एक संस्कृति द्वारा थोपने के बजाय सभी संस्कृतियों के बीच खुले और समान संवाद से विकसित किया जाए। भारतीय 'अनेकान्तवाद' और 'सर्वधर्मसमभाव' की परम्परा इस दिशा में एक मूल्यवान दार्शनिक योगदान प्रस्तुत करती है। चतुर्थतः, वैश्वीकरण के दौर में सांस्कृतिक पहचान की रक्षा के लिए एकान्गी राष्ट्रवाद या कट्टरपन्थी परम्परावाद नहीं, बल्कि एक खुला, आत्म-समालोचनात्मक और संवाद-उन्मुख सांस्कृतिक आत्मबोध आवश्यक है। ठाकुर, गाँधी और अम्बेडकर ने इसी दिशा में भारतीय सांस्कृतिक पहचान का एक प्रगतिशील और समावेशी मॉडल प्रस्तुत किया था जो आज भी प्रासंगिक है।

पंचमतः, भाषाई विविधता के संरक्षण को सांस्कृतिक पहचान की रक्षा के लिए एक प्राथमिक नीतिगत लक्ष्य बनाया जाना चाहिए। भाषाएँ न केवल सम्प्रेषण के माध्यम हैं, बल्कि ज्ञान, स्मृति और विश्वदृष्टि की अमूल्य धरोहर हैं। अन्ततः यह कहा जा सकता है कि एक न्यायसंगत और टिकाऊ वैश्वीकरण वह होगा जो 'विश्व में एकता' और 'विश्व में विविधता' दोनों को समान रूप से महत्त्व दे। यह कार्य दर्शनशास्त्र के बिना सम्भव नहीं है, क्योंकि यह मूलतः एक दार्शनिक कार्य है मानव की साझेदारी और विशिष्टता दोनों को एक साथ स्वीकार करना और उन्हें एक समृद्ध सह-अस्तित्व में साधना।

सुझाव (Recommendations)-

प्रस्तुत शोध पत्र के विश्लेषण के आधार पर निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किए जाते हैं। प्रथम सुझाव यह है कि भारत सरकार एक व्यापक 'सांस्कृतिक विविधता संरक्षण नीति' बनाए जिसमें लुप्तप्राय भाषाओं और बोलियों का दस्तावेजीकरण और डिजिटलीकरण, लोक-कलाओं और पारम्परिक शिल्पों के कलाकारों को आर्थिक सुरक्षा, आदिवासी और स्थानीय ज्ञान-परम्पराओं का अकादमिक संरक्षण, और क्षेत्रीय भाषाओं में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा का विस्तार शामिल हो।

द्वितीय सुझाव यह है कि शिक्षा के सभी स्तरों पर 'अन्तर-सांस्कृतिक संवाद' और 'सांस्कृतिक बहुलवाद' को पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया जाए। विद्यार्थियों को अपनी स्थानीय संस्कृति के प्रति गर्व और अन्य संस्कृतियों के प्रति सम्मान—दोनों एक साथ सिखाए जाने चाहिए। तृतीय सुझाव यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और सांस्कृतिक समझौतों में 'सांस्कृतिक अपवाद' (Cultural Exception) का सिद्धान्त अपनाया जाए। फ्रांस और कनाडा ने अपनी सांस्कृतिक उत्पादन को WTO के मुक्त व्यापार नियमों से बाहर रखने का सफल प्रयास किया है। भारत को भी इस दिशा में दृढ़ कूटनीतिक पहल करनी चाहिए।

चतुर्थ सुझाव यह है कि डिजिटल क्षेत्र में भारतीय भाषाओं को प्रोत्साहन देने के लिए एक राष्ट्रीय 'डिजिटल भाषा मिशन' स्थापित किया जाए जो इंटरनेट, स्मार्टफोन और आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस अनुप्रयोगों में भारतीय भाषाओं की उपलब्धता और गुणवत्ता को बढ़ाए। पंचम सुझाव यह है कि UNESCO के 'सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों की विविधता के संरक्षण और संवर्धन पर अभिसमय' (2005) को भारत में पूरी प्रतिबद्धता के साथ लागू किया जाए और इसके लिए पर्याप्त वित्तीय संसाधन उपलब्ध कराए जाएँ।

षष्ठ सुझाव यह है कि नागरिक समाज संगठन, शिक्षाविद् और मीडिया मिलकर वैश्वीकरण की एक समालोचनात्मक साक्षरता (Critical Literacy of Globalization) विकसित करें जिसमें नागरिकों को यह समझने में सहायता मिले कि वैश्वीकरण की कौन सी प्रक्रियाएँ लाभकारी हैं और कौन सी उनकी सांस्कृतिक स्वायत्तता और पहचान के लिए हानिकारक। सप्तम सुझाव यह है कि दक्षिण-दक्षिण सांस्कृतिक सहयोग को प्रोत्साहित किया जाए — अर्थात् एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका की संस्कृतियों के बीच सीधे संवाद और सहयोग के अवसर बढ़ाए जाएँ, जिससे वैश्विक सांस्कृतिक विमर्श में पश्चिम का वर्चस्व कम हो और वास्तविक बहुलतावादी विश्व-संस्कृति विकसित हो सके।

संदर्भ ग्रन्थ (References)-

1. अम्बेडकर, भीमराव रामजी (1936). जाति का विनाश. नई दिल्ली: सम्यक प्रकाशन.
2. गाँधी, मोहनदास करमचन्द (1909). हिन्द स्वराज. अहमदाबाद: नवजीवन प्रकाशन मंदिर.
3. ठाकुर, रवीन्द्रनाथ (1917). राष्ट्रवाद. नई दिल्ली: साहित्य अकादमी (हिन्दी अनुवाद: 1985).
4. मिश्र, पंकज (2012). एशिया का उदय. नई दिल्ली: हार्पर कोलिन्स.
5. सेन, अमर्त्य (2005). तर्कशील भारतीय (The Argumentative Indian). नई दिल्ली: पेंगुइन.

6. शर्मा, चन्द्रधर (2000). भारतीय दर्शन: एक आलोचनात्मक सर्वेक्षण. वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन.
7. Appadurai, Arjun (1996). Modernity at Large: Cultural Dimensions of Globalization. Minneapolis: University of Minnesota Press.
8. Bhabha, Homi K. (1994). The Location of Culture. London: Routledge.
9. Bourdieu, Pierre (1998). Acts of Resistance: Against the Tyranny of the Market. New York: New Press.
10. Castells, Manuel (1997). The Power of Identity. Oxford: Blackwell.
11. Fanon, Frantz (1961). The Wretched of the Earth. New York: Grove Press.
12. Giddens, Anthony (1990). The Consequences of Modernity. Stanford: Stanford University Press.
13. Habermas, Jurgen (1981). Modernity: An Incomplete Project. In: H. Foster (Ed.), Postmodern Culture. London: Pluto Press.
14. Herder, Johann Gottfried (1784). Ideas for a Philosophy of the History of Humanity. Cambridge: Cambridge University Press (2002 edition).
15. Huntington, Samuel P. (1996). The Clash of Civilizations and the Remaking of World Order. New York: Simon & Schuster.
16. Kymlicka, Will (1995). Multicultural Citizenship: A Liberal Theory of Minority Rights. Oxford: Oxford University Press.
17. Nussbaum, Martha C. (2000). Women and Human Development: The Capabilities Approach. Cambridge: Cambridge University Press.
18. Panikkar, Raimon (1999). The Intra-Religious Dialogue. New York: Paulist Press.
19. Robertson, Roland (1992). Globalization: Social Theory and Global Culture. London: SAGE Publications.
20. Said, Edward W. (1978). Orientalism. New York: Pantheon Books.
21. Sen, Amartya (1999). Development as Freedom. New York: Oxford University Press.
22. Taylor, Charles (1992). The Ethics of Authenticity. Cambridge: Harvard University Press.
23. UNESCO (2005). Convention on the Protection and Promotion of the Diversity of Cultural Expressions. Paris: UNESCO.
24. Wittgenstein, Ludwig (1953). Philosophical Investigations. Oxford: Basil Blackwell.